इतिहास : एक खोजी सफर है

✍ **हिमालय तहसीन**

स्कूल से स्नातक स्तर तक, बहुत से लोगों के लिए इतिहास एक बेहद ऊबाऊ विषय है और बहुतों के लिए सुविधाजनक। गोया कि रट लीजिए तारीखें, राजघराने और इन्हीं सबसे जुड़ी कुछ अन्य बातें और लीजिए, हो गई इतिहास की पढ़ाई! सब कुछ तो तय है, फिर इसमें ज्यादा सोचने–समझने का है क्या?

कुछ ही छात्र–छात्राओं के लिए यह एक विषय के रूप में रुचिकर बन पाता है। इनमें भी अधिकतर ऐसे होते हैं, जिन्हें इतिहास भावनात्मक रूप से झकझोरता है। इतिहास के अधिकतर शिक्षकों को भी लगता है कि इस विषय में निहित दो तत्त्व ऐसे हैं, जो इसे कुछ रुचिकर बना सकते हैं; राष्ट्र और धर्म। इनका गौरवगान या इनके प्रतीकों पर प्रहार का वर्णन शिक्षक के मन में और माहौल में भी उत्तेजना पैदा करते हैं। यद्यपि ये दोनों तत्त्व नोशनल हैं, कपोल–कल्पित हैं। ठीक वैसे ही जैसे कि मुद्रा, जिससे जुड़ा मूल्य स्वीकार न किया जाए तो वह कागज की रंगीन पर्ची या धातु का टुकड़ा भर ही तो है। इसी प्रकार राष्ट्र की कल्पना के साथ एक कल्पित (अक्सर विवादास्पद) नक्शा जोड़ दिया जाता है और धर्म के साथ आस्था और अनेक भौतिक प्रतीक। शिक्षक या शिक्षण संस्था का रिश्ता अतिवादी विचारधारा से हो तो कक्षा का माहौल कुछ गर्माता है, लेकिन हर हाल में ये सवाल ज्यादातर छात्र–छात्राओं के मन में अटका रह जाता है कि सैकड़ों, हजारों साल पहले जो हुआ, उसके विस्तार में जाना भला हमारे वर्तमान या भविष्य के लिए क्यों जरूरी है?



इतिहास, मानव–जाति का सफरनामा है। यह न तो तारीखों में बंधा है और न ही राजे–रजवाड़ों तक सीमित है। हम अपनी आस्थाओं को ताक पर रखकर इस सफर पर निकलें तो पाएंगे कि इतिहास ऐसे विस्तार में बिखरा हुआ है, जहां देश और काल की सीमाएं धुंधली पड़ जाती हैं और जरा–सी तर्कशीलता से ऐसे आयाम उभर आते हैं जो वर्तमान और भविष्य की हमारी समझ और अहसास को बदल देने की कुव्वत रखते हैं।

किसी भी काल–खंड या राष्ट्र का इतिहास पलटकर देखिए; अलग–अलग दृष्टिकोणों से वह बिल्कुल अलग–अलग ही दिखाई पड़ता है। जनजीवन की सोच, राजनीतिक सीमाएं और प्रशासनिक व सामाजिक ढांचे न सिर्फ बदलते हुए दिखते हैं, बल्कि एक ही देश–काल की घटनाएं भिन्न दृष्टिकोण से अलग ही नजर आती हैं। किंतु अधिकतर इतिहासकार बिल्कुल भिन्न स्थितियों का अनुकूलन कर किसी न किसी अतिवादी विचारधारा को परिपुष्ट करने में प्रयासरत प्रतीत होते हैं। इतिहास के शिक्षक भी अपनी–अपनी सोच के मुताबिक 'सही' इतिहासकार का चयन कर, उसके उद्धरणों को प्रमुखता देते हुए, विद्यार्थियों के सामने ऐतिहासिक घटनाओं को पेश करते हैं।

यह ठीक है कि पूर्वाग्रहों से पूरी तरह मुक्त होना मुश्किल है; किंतु यथासंभव मुक्ति के बाद उसी इतिहास को कुछ उदाहरणों से देखने–समझने की कोशिश करते हैं।

इतिहास और राष्ट्र

राष्ट्रवाद चिरकालीन विचार नहीं है। इतिहास में यह नस्ल, जाति और वंशवादी साम्राज्यों के रूप में मिलता है। कुछ ग्रंथों में पितृभूमि का विचार मिलता है, जिसका आधार नस्ल व जाति ही है। इसमें शामिल 'भूमि' का तात्पर्य राजनीतिक प्रभुत्व से ज्यादा सांस्कृतिक दबदबे के विस्तार से है।

राष्ट्रवाद की आज की समझ उस मध्ययुगीन यूरोप से जनित है, जहां धर्म के शिकंजे से छटपटाहट को राष्ट्रीयता के विचार में पुनः आबद्ध कर दिया गया। आम जनता के लिए एक ओर अमूर्त ईश्वरीय सत्ता, उसके नाम पर लूट मचाते धर्म की नित–नई पेचीदगियां और अपनी पीड़ा के आगे आस्था के मौन प्रतीक थे। दूसरी ओर, अपनी सारी निरंकुशता के बावजूद, मूर्तिमान राजसत्ता थी जिसके तात्कालिक हितों को साधकर उसे प्रसन्न किया जा सकता था। अर्थव्यवस्था की लगामें अपने हाथ में रखने वाले श्रेष्ठी वर्ग के लिए भी धर्म और राजनीति की लड़ाई बेहतर सौदेबाजी का सबब थी। कलाकार, जोखिम उठाने वाले खोजी, अन्वेषक और यहां तक कि लुटेरों के कामों का राष्ट्र के बड़े (व उच्च) विचार के साथ जुड़ जाना श्रेयस्कर भी था और लाभकारी भी। ये सारे लोग जिन 'भूमियों' तक पहुंचे वहां अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक दबदबे का विस्तार भी किया। फलस्वरूप इन देशों में भी राजनीतिक सीमाओं पर आधारित राष्ट्रवाद पनपा। किंतु सांस्कृतिक श्रेष्ठता की लड़ाई में भला कौन किसको श्रेय देता है?

हमारे देश में ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा बुलंद करने वालों ने ऐसा नक्शा प्रस्तुत किया है, जिसमें भारत का विस्तार पश्चिम में ईरान व अरब तक, पूर्व में दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों तक और उत्तर व उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान और मध्य एशिया के पार तक दर्शाया गया है।

इतिहास को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण से पढ़ाते समय मुख्यतः दो बातें कही जाती हैं:

1. भारत युगों–युगों से एक शांतिप्रिय देश रहा है और हमारे शासकों ने किसी पर हमला नहीं किया।
2. भारत पर विदेशियों ने अनेक आक्रमण किए हैं।

अव्वल तो ऐसा कोई ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के इस नक्शे को परिपुष्ट करता हो। फिर भी, आइए, यही नक्शा सामने रखकर इन दोनों बातों को परखें। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नक्शे में शामिल क्षेत्रों में, अशोक से लेकर औरंगजेब तक, भारतीय सम्राटों के अनेक शौर्यपूर्ण अभियानों का उल्लेख किया जाता है। महाकाव्यों के महानायकों और उनके बंधु–बांधवों के अभियानों का विस्तार भी इन क्षेत्रों से जोड़ा जाता है। यह बताया जाता है कि कैसे इन क्षेत्रों को जीता गया और समय–समय पर विद्रोहों को कुचला गया।



अब भारत को आक्रांत करने वालों पर नजर डालें– कुषाण, शक, अरब, तुर्क, मुगल व पठानों तक, यानी यूरोपवासियों से पहले तक के लगभग सभी आक्रमणकारी उन्हीं क्षेत्रों से आए हैं जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नक्शे में शामिल हैं।

क्या इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे ही विशाल 'सांस्कृतिक राष्ट्र' के शासक एक–दूसरे पर हमले करते रहे और चीन व यूरोपवासियों को छोड़ दें तो हम पर कोई विदेशी हमला नहीं हुआ। या फिर हम ये मानें कि जब भारतीय प्रायद्वीप में उत्तरी मैदानों के शासक शक्तिशाली हुए तो उन्होंने पश्चिमी व उत्तर पश्चिमी देशों पर हमले किए और जब उन देशों के शासकों के पास शक्ति आई तो उन्होंने उत्तर भारत के मैदानी इलाकों पर आक्रमण किए। दोनों ही स्थितियों में यह बात तो नहीं बनती कि भारतीय शासकों का मिजाज कभी शांतिप्रिय रहा है। इस स्पष्टता के बावजूद विशुद्ध राजनीतिक इतिहास भी उत्तेजना पैदा करने के लिए काफी है, यदि उसे आस्था से जोड़ दिया जाए।

इतिहास और आस्था

आस्था का जुड़ाव कई पक्षों से है, किंतु मानव जाति के इतिहास में सर्वाधिक इस्तेमाल धार्मिक आस्था का हुआ है। इसी दम पर कई युद्ध हुए और इंसानियत को शर्मसार करने वाली हिंसा हुई, जिन्हें धर्मयुद्ध, जिहाद, क्रूसेड कहकर महिमामंडित किया जाता है। शिक्षण में भी इतिहास और



धार्मिक आस्था का घालमेल किया जाता है, जिसका त्वरित और तीखा असर होता है।

इस बात को हम एक उदाहरण से समझने की कोशिश करें। प्राचीन भारतीय इतिहास में हुई लड़ाइयों का उल्लेख उनमें शामिल जातियों या शासकों के नाम से किया जाता है। किंतु मध्यकालीन इतिहास को भारत पर मुस्लिम आक्रमणकारियों के हमले के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिर, यूरोपवासियों द्वारा भारत में लड़े युद्धों को उनके देश के नाम से बताया जाता है– जैसे कि पुर्तगाली, डच, फ्रांसिसी, अंग्रेज। इतिहास के केवल एक हिस्से को धार्मिक रंग दिया गया है। अंग्रेज इतिहासकारों ने यह काम इस खूबी से किया है कि इतिहास के विद्यार्थी और शिक्षक घोषित धर्मयुद्धों को सत्ता के लिए राजाओं की आपसी लड़ाई मानते हैं, जबकि मध्यकालीन युद्धों को धार्मिक चश्मे से ही देखते हैं। दो उदाहरण देखें :

1. आठवीं सदी ईसवी में अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम द्वारा सिंधु नरेश दाहर को पराजित करना सत्ता का युद्ध न होकर धार्मिक युद्ध मान लिया जाता है, जबकि महाभारत के धर्मयुद्ध में सिंधु नरेश जयद्रथ को कृष्ण व अर्जुन द्वारा छल से मारना हर्ष का विषय बन जाता है।
2. हल्दी घाटी की लड़ाई को धार्मिक रंग दिया जाता है, जबकि मुगल फौजों का नेतृत्व राजा मानसिंह कर रहे थे और मेवाड़ की सेना का हरावल दस्ता हकीम खां सूर के सेनापतित्व में लड़ते हुए खेत रहा था।

इसके साथ ही धार्मिक आस्थाओं का घालमेल करता सांस्कृतिक राष्ट्रवाद अपने देश को संसार के सारे ज्ञान का घर साबित करने का प्रयास करता है। भारत में भी 'विश्वगुरु' का शब्द अतीत से अनुराग पैदा करने में बड़ा उपयोगी है। इस संदर्भ में नालंदा और तक्षशिला विश्वविद्यालयों को पुख्ता ऐतिहासिक प्रमाण माना जाता है। यह सही है, उस सीमा तक जहां इन विश्वविद्यालयों की प्रकृति के निम्नलिखित बिंदुओं को समझा जाए :

1. ये बौद्ध मत के विश्वविद्यालय थे।
2. बौद्ध मत नास्तिक है, जिसका अर्थ है वेदों को प्रमाण नहीं मानने वाला मत।
3. बौद्ध मत ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता है। यहां सृष्टि का विचार कारण–कार्य के सिद्धांत पर आधारित है।

उपर्युक्त बिंदुओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि नालंदा और तक्षशिला की प्रसिद्धि उनकी तर्कशीलता और वैज्ञानिक मिजाज के कारण थी। किंतु इन विश्वविद्यालयों के अध्यापकों या विद्यार्थियों की रचनाओं में कहीं भी 'विश्वगुरु' की अवधारणा नहीं है।

इतिहास के अध्ययन–अध्यापन में धार्मिक आस्था और राष्ट्र पर प्रहार के साथ ही संपदा के वितरण और हरण का प्रस्तुतीकरण भी अक्सर एक–पक्षीय होता है।

इतिहास और ऐश्वर्य

इतिहास के स्वर्ण युगों के वर्णन में जन–जीवन की समृद्धि और खुशहाली का स्थान कदाचित कम ही होता है। शासकों की अकूत संपदा की चकाचौंध और महल, दुर्ग व धर्मस्थलों की भव्यता के पीछे ओझल जनता के क्या हाल थे? काबा हो, सोमनाथ का मंदिर या अन्य धर्मस्थल, इनकी लूट के साथ धार्मिक आस्था को तो जोड़ दिया जाता है, लेकिन ये सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं कि जब इन देशों की जनता संकट में थी, तब महलों और धर्मस्थलों में अपार धनराशि कैसे जमा हो रही थी? क्या जनता को मजहब और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य के नाम पर इस कदर छला जा रहा था कि लूट–पर–लूट हुई, मगर सत्ताधीशों और धार्मिक मठाधीशों का ऐश्वर्य कम नहीं हुआ। ये स्वर्ण युग, ये ऐश्वर्य; इनका गौरवगान और इस लूट के लुट जाने पर, तार्किक विश्लेषण की बजाए, आस्थाओं से खेलने वाला भावनात्मक रुदन और रोष हमारे इतिहास शिक्षण में पैठता जा रहा है।

तार्किक सफर में अनिश्चित का स्वीकार्य

अंतिम सत्य का उद्घोष करने वाली धार्मिक, राष्ट्रवादी और स्वर्णयुगीन आस्थाओं के बरअक्स सत्य के विविध आयामों की सतत तलाश करना जितना जरूरी विज्ञान के लिए है उतना ही इतिहास के लिए भी आवश्यक है। इतिहास के शिक्षक से विद्यार्थी को यह समझ प्राप्त हो कि इतिहास में जड़ीभूत जीवाश्मों का जिक्र है, लेकिन इतिहास जड़ीभूत नहीं है।

इतिहास के सफर में, हर हाल में खुद को ढालने की क्षमता रखने वाले मनुष्य द्वारा की गई खोजें हैं तो हालात को अपने अनुरूप बनाने के लिए हुए आविष्कार भी हैं; कहीं जुल्म और उसका महिमामंडन है तो कहीं उसके खिलाफ संघर्ष है; यूं भी है कि कई प्रकार से ज्ञात का प्रमाण नहीं है जबकि कई प्रमाण भी कुछ स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। ऐसे अवसरों पर अतीत के किसी गौरवगान के साथ सुर मिला लेने का लोभ संवरण करना मुश्किल होता है। इतिहास के विद्यार्थी में यह स्वीकार करने की क्षमता आ जाए कि मौजूदा प्रमाण व स्रोत अमुक दौर या अमुक घटना के बारे में यह दर्शाते हैं और बस इतना ही बताते हैं, फिर चाहे वो कितना ही सीमित या प्रचलित मान्यता से कितना ही अलग क्यों न हो। इस प्रक्रिया में बहुत कुछ अनिश्चित रह सकता है। किंतु इतिहास की तार्किक खोज के सफर में इस अनिश्चित को स्वीकार करने पर आस्थाओं और पूर्वाग्रहों से बहुत हद तक आजाद, बंधनमुक्त इतिहास की अवधारणा बनेगी। इस जमीन पर जिस इतिहास की रचना होगी, वह तारीखों और साम्राज्यों का इतिहास न होकर जनजीवन का इतिहास होगा।

जनजीवन का इतिहास

अब तक रचा गया इतिहास उस वर्ग की देन है, जो लिखना–पढ़ना जानता था और यह सुनिश्चित करता था कि जनसाधारण को यह विद्या प्राप्त न होने पाए। यह इतिहास उस वर्ग के लिए भी था जो इसका मूल्य चुकाना जानता था। इन दोनों की हमजोली में जनजीवन का इतिहास कहीं दर्ज नहीं हो पाया, गोया पानी पर बुलबुलों की मानिंद बनता–बिगड़ता ही रहा है।

एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। दक्षिणी राजस्थान में अरावली की वादियों में लोग कब आ बसे यह ज्ञात नहीं होने से ही उन्हें आदिवासी कहा गया। ताम्रयुगीन सभ्यताओं के दौर में भी यह क्षेत्र व्यापारिक मार्ग पर था, यहां खदानें थीं और धातुओं का प्रसंस्करण होता था। विडंबना यह है कि विगत छह–सात सौ सालों में यहां बसे राजघरानों के कई महल मिल जाएंगे, जो शासक और शासित का फर्क भी दर्शाएंगे, लेकिन अपने आदि निवास कालखंड में आदिवासियों की ऐसी कोई निशानी नहीं मिलती जो शासक और शासित का फर्क बताती हो। दरअसल, ऐतिहासिक ग्रंथों में आदिवासियों का उल्लेख कहां व कितना है; जो है वह भी उनके पशुवत चित्रण में है जहां उन्हें तथाकथित सभ्य समाज का शत्रु दर्शाया गया है या उनके नायकों का अनुचर।

बच्चे ने क्या पाया

अंततः, महत्त्वपूर्ण यही है कि विद्यार्थी के लिए इतिहास का सफर कैसा होगा। यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि क्या शिक्षक के मन में जानने का कौतूहल है कि उसके विद्यार्थियों ने इस यात्रा में क्या पाया! शिक्षक की सोच का खुलापन, उसकी तार्किकता और अपनी आस्था व पूर्वाग्रह का भी विश्लेषण करने की उसकी क्षमता विद्यार्थियों को बंधनमुक्त इतिहास का तर्कशील मुसाफिर बना सकती है। ऐसे मुसाफिरों की अनेक यात्राओं के समग्र से, देश–काल के विराट और



वैविध्य में, जनजीवन के क्षण–भंगुर बुलबुलों के नानावर्णी इतिहास की रचना होगी। यह जीवंत इतिहास हमारे वर्तमान व भविष्य का बेहतर पुरोधा होगा।

हिमालय तहसीन : संकाय सदस्य, विद्या भवन स्थानीय स्वशासन एवं उत्तरदायी नागरिकता संस्थान, उदयपुर।